

वैष्णवी आस्था और उसके सामने उभरती आधुनिक चुनौतियां

(आधारपत्र)

(उपक्रम)

द्वैताद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद द्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद या अन्नित्यद्वैताद्वैतवाद की विविध दार्शनिक अवधारणाओंकी वाङ्मुद्रामें प्रकट होनेवाले 'वैष्णव धर्म' या 'वैष्णवी आस्था' में सामान्यरूपेण विष्णुको ही केन्द्रवर्ती मौलिक परम तत्त्वके रूपमें स्वीकारा गया है. वैष्णवपुराणों और वैष्णवागमों के अलावा “विष्णुः गोपा अदाभ्यो अतो धर्माणि धारयन्... तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः = विष्णु है रक्षक इस लिये धर्मों को धारण करता है...विद्वान् उस विष्णुके परम पद का सदा दर्शन करते हैं.” (ऋक्संहि.१।२२।१८-२०) “विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि = विष्णुके सामर्थ्य / वीर्य के बारेमें कौन क्या कह पायेगा ! जो पृथ्वीके रज कण कितने है यह जानता हो.” (ऋक्संहि.१।१५३।१) “विष्णुमुखाः वै देवाः छन्दोभिः इमान् लोकान् अनपजय्यम् अभ्यजयन् = विष्णुको अग्रणी बनाकर देवगणोंने छंदोके द्वारा अजेय लोकों को जीत लिया.” (तैत्ति.आर.१०।१।१०) जैसे ऋग् यजु आदि वेदोंके वचनोंमें भी 'विष्णु' नामक देवके अतिशय महिमावान् होनेका निरूपण भी मिलता तो है ही.

(वैष्णवी आस्था)

यद्यपि आधुनिक भारतीय विद्याविद् वैष्णव शैव या शाक्त आदि धर्म-सम्प्रदायोंमें परमतत्त्वतया समादृत विष्णु शिव या शक्ति आदि देवताओंको वैदिक अधिदेव न मान कर पौराणिक अधिदेव मानते हैं. परन्तु पारम्परिक दृष्टिकोण इस विषयमें वेद और पुराणों के बीच उतना अधिक अन्तर स्वीकारनेका नहीं था. अतएव वेदप्रतिपादित अथवा पुराणप्रतिपादित देवताओंके बारेमें न तो एकान्तिक अभेद और न एकान्तिक भेद ही माना जाता था. अतएव अमरकोषमें भी वैदिक 'विष्णु' 'त्रिविक्रम' 'नारायण' नामोंकी तरह ही 'कृष्ण' 'वासुदेव' 'देवकीनन्दन' आदि पौराणिक नाम भी एक ही देवके विभिन्न पर्यायवाची नाम माने गये हैं.

ऋक्संहिताको ही पकड़ कर चलें तो एक और अनूठा पक्ष उभर कर सामने आता है. यथा : “एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् = एक ही परम तत्त्व यह सब कुछ बना है.” (ऋक्संहि.८।५८।२), “इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः... एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः = वह परम तत्त्व एक है परन्तु वेदको भलीभांति जाननेवाले उसका अनेक रूपोंमें निरूपण करते हैं : इन्द्र सूर्य

वरुण अग्नि यम वायु उसे ही कहते हैं.” (ऋक्संहि.१।१६४।४६), “त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत्, त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः, त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवाः, त्वम् इन्द्रो दाशुषे मर्त्याय = हे अग्नि ! तुम वरुण बनते हो, अच्छी तरह प्रज्वलित करने पर तुम ही सूर्य बनते हो, अपने पुत्रों के साथ जितने देव हैं वह तुम्ही बने हो, मरणशील प्राणीको अभिलषित वर प्रदान करने वाले इन्द्र तुम बनते हो.”

(ऋक्संहि.५।२।१) “यो देवानां नामधा एकएव = अनेक देवोंके नामों को धारण करनेवाला तो एक ही है.” (ऋक्संहि.१०।८२।३) वेदके इन विधानोंपर केवल दृष्टिपात करने मात्रसे इतना तो सरलतासे समझा जा सकता है कि आरंभसे ही न तो हम संस्कृतिविहीन प्रकृतिपूजावादी (paganistic) थे, न बहुदेववादी थे (polytheistic) और न एकदेववादी या मेक्समूलरोक्त एकदेवाश्रयवादी (monotheistic/henotheistic) ही.

हम तो “यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्रा विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः = तैत्तिरीयों देवता जिसके अंग प्रत्यंगोंके रूपमें विभक्त हुए हैं परन्तु ब्रह्मको जाननेवाला उन तैत्तिरीयों देवताओं को एक ही ब्रह्म ही मानता है.” (अथ.संहि.१०।७।१६) “यद् वै किञ्च अनूक्तं तस्य सर्वस्य ‘ब्रह्म’ इति एकता = जो भी कुछ कहा-सोचा जा सकता है उन सभीका ‘ब्रह्म’ कहने से एक होना समझमें आ पाता है” (बृह.उप.१।५।१७) इन वेदवचनोंका अनुसरण करनेवाले ब्रह्माद्वैतवादी थे, जिस एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक नाम और अनेक रूप और उन अनेक नाम-रूपोंकी अनेक प्रकारकी आराधनाओंके अनुमोदक अर्थात् बिना किसी स्पर्धा-कलहके स्वीकार करनेवाले थे. अतएव जिस देवताके यज्ञ-होमादि कर्म, पूजन, जप, ध्यान, प्रार्थना या भक्ति आदिके आराधनाके प्रकारोंको अनुसरणार्थ हम अपनाते थे, उस आराधनाकी रीतिमें अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यश्रद्धा या अनन्याश्रय की भावना रखते होनेपर अन्यकी अस्वीकृति या अवहेलना करनेवाले हम नहीं थे. हमारे इष्टदेवके नामसे पृथक् या इष्टदेवरूपसे पृथक् अथवा उसकी आराधनाकी रीतिसे पृथक् भी किसी अन्य नामवाले देवरूपकी आराधनाकी अन्य रीति हमारे भीतर असहिष्णुता स्पर्धा या धर्मान्तरण की उद्दाम आकांक्षाको प्रबल नहीं बना देती थी. जैसा कि वैदिक निरुक्तकार कहते हैं :

“यद्देवः स यज्ञो वा यज्ञांगं वा तद्देवता भवति... अपिवा कामदेवता स्यात्... अपिहि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते... महाभाग्याद् देवतायाः एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति... प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च. इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः, कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः... तासां महाभाग्याद् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति, अपिवा कर्मपृथक्त्वात्... अपिवा पृथगेव स्युः पृथग्धिस्तुतयो भवन्ति”.

जिस यज्ञ या यज्ञके अंगभूत कर्मोंमें जो देवता होता है वह यज्ञ उस देवता का माना जाता है... अपनी कामनाके अनुसार भी कुछ देवता होते हैं... कभी-कभी जो देवता ना हो उसकी भी देवताके रूपमें स्तुति की जा सकती है... वस्तुतः एक ही आत्माकी बहुत सारे प्रकारों से स्तुति उन अनेक देवताओंके महाभाग्यशाली होने के कारण उपपन्न है क्योंकि एक ही आत्माके अनेक देवता अंग-

प्रत्यंग रूप होते हैं... उन अनेक देवरूपोंको धारण करनेवाला उपादान या प्रकृति अनेक नामों वाली होनेसे यह उपपन्न हो पाता है...अतएव उन देवताओंका जन्म परस्पर एक-दूजेसे होता भी माना जाता है. कुछ देवता कर्मोंके अनुष्ठानवश भी प्रकट होते हैं. ये देवगण महाभाग्यशाली होते हैं अतएव एक एक देव के अनेक नाम हो सकते हैं... कर्मोंके पृथक्-पृथक् होनेके कारण भी देवता पृथक्-पृथक् हो जाते हैं. पृथक्-पृथक् बुद्धि भाव एवं स्तुतियोंके कारण भी देवता पृथक्-पृथक् बन जाते हैं.)

(निरु.७।१।४-७।२।६).

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी अतएव 'बालबोध' नामक लघुकाय उपदेशग्रन्थमें मोक्ष पुरुषार्थके ^१स्वतोमोक्ष और ^२परतोमोक्ष यों दो मूल प्रभेद प्रतिपादित करते हैं. इन दोनोंके चार :
^{१/क}सांख्यशास्त्रीय विवेक-बाह्यत्याग और वैराग्य से लभ्य स्वतोमोक्ष ^{१/ख}योगशास्त्रीय यमनियमादि-
 ध्यानधारणासमाधिसे लभ्य स्वतोमोक्ष ^{२/क}शैवागमोक्त शिवकी आराधनासे होता परतोमोक्ष
^{२/ख}वैष्णवागमोक्त विष्णुकी आराधनासे होता परतोमोक्ष यों अवान्तर उपभेदोंको भी स्वीकारते हैं.
 इसी तरह 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' नामक ग्रन्थके सर्वनिर्णय प्रकरणमें महाप्रभु वैदिक कर्मानुष्ठानसे लभ्य आत्मानन्दानुभूतिरूप मोक्ष, औपनिषदिक ब्रह्मकी उपासना-ध्यान आदिसे प्राप्य ब्रह्मज्ञानलभ्य ब्रह्मानन्दानुभूतिरूप मोक्ष भी मान्य करते ही हैं. इसी तरह माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढसर्वतोधिक स्नेहरूपा भागवती प्रेमलक्षणा भक्ति और उसे प्राप्त करनेको नवधा भक्तिके उपायोंके अनुष्ठानसे लभ्य भजनानन्दको भी मान्य करते हैं. साथ ही साथ महाप्रभुने अपना यह अभिप्राय भी स्पष्ट किया है कि सकामभक्ति तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी भी भजनीय स्वरूपकी क्षुद्रदेवताके रूपमें पदावनतिका हेतु बन जाती है; और अन्यान्य विभूतिरूप देवताओंका भी ब्रह्माद्वैतबुद्धिद्वारा किया जाता भजन उन देवताओंको मोक्षप्रापक बना पाता है.

एकेश्वरवाद या अनेकेश्वरवाद के दो विरोधी खेमोंमें बँटी आस्थाओंके बीच चलते झगड़ें हमारी व्यापक लचीली प्रज्ञा कभी उलझी नहीं. इसीलिये हमारी आधिदैविकी आस्थाका भी ऐसा व्यापक और लचीला स्वरूप प्रकट हो पाया. हमारी आस्थाके स्वरूपकी तादात्म्यनियतिमें हमें पश्चिमी तर्कशास्त्रमें समादृत आधारभूत तीन तर्कनियमोंके अन्तर्गत द्वितीय अव्याघातनियम और तृतीय मध्यपातिव्यावर्तकनियम कभी स्वीकरणीय नहीं लगे. हमें कभी ऐसा नहीं सूझा कि एक आस्था सत्य तो दूसरी आस्था अवश्य मिथ्या ही होनी चाहिये; अथवा दो विरोधी आस्थाएँ एक साथ सत्य हो नहीं सकती. अतएव अपने-अपने अनुष्ठेय कर्मोंके अन्तर्गत किसी देवका एकमात्र अधिष्ठाता होना या अनेक देवताओंका किसी कर्ममें समुच्चय या विकल्प या अन्वाचयवाला गौणमुख्यभाव होना किसी या किन्हीं देवताओंके प्रति अपराधी या विद्रोही होनेकी आत्मग्लानिसे हमें भर नहीं पाया. अतएव अन्य आस्थाओंको दण्डनीय या धर्मान्तरणीय प्रमुख कर्तव्य बनानेवाले असहिष्णु देवके साथ जुड़ी आस्थाओंकी तरह हमारी आस्था कभी भी अन्यान्य धर्मानुष्ठानोंकी विविधरूपताकी निरासिका बन

नहीं पायी.

इस विषयमें हमारी आस्थाके स्वरूप और उसकी प्रक्रिया के निरूपक कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताके ये तीन वचन अतीव प्रकाशपाती हो सकते हैं :

१“ ‘नमो देवेभ्यः !’ इति आह याः चैव देवता यजति याः च न, ताभ्यएव उभयीभ्यो नमस्करोति आत्मनो अनात्न्यै = “देवताओंको नमस्कार ।” ऐसा कहो क्योंकि जिस देवताका यजन करते हो अथवा जिस देवताका यजन नहीं करते, उन सभी को नमन हो जाता है. यह नमन अपनी आर्तियोंको मिटानेवाला होता है.” (तैत्ति.संहि.२।६।९).

२“ ‘हुतादो वा अन्ये देवाः अहुतादो अन्ये. तान् अग्निचिदेव उभयान् प्रीणाति = कुछ देवता ऐसे होते हैं जो उन्हें दी हुई आहूतिका उपभोग करते हैं, कुछ देवता ऐसे भी होते हैं जो उन्हें न दी गई आहूतिका भी उपभोग करते हैं, अग्नि का चयन करनेवाला ही दोनों तरहके देवताओंको प्रसन्न कर पाता है.” (तैत्ति.संहि.५।४।५).

३“ ‘यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति, यो यथादेवतं, न देवताभ्यः आ वृश्च्यते वसीयान् भवति = जो अग्निचयन जिस देवताके हेतु किया गया हो उसे आहूति प्रदान न कर अन्य किसी देवको आहूति प्रदान करनेवाले का सभी देवताओंसे सम्बन्ध टूट जाता है और वह महान पाप का भागीदार होता है. जो अग्निचयन जिस देवताके हेतु हो उसी देवताको आहूति प्रदान करनेवालेका किसी भी देवताके साथ सम्बन्ध टूटता नहीं और वह धन्य बन जाता है.” (तैत्ति.संहि.५।७।९).

ये वचन वैसे तो श्रौतकर्मकाण्डीय देवताओंके सन्दर्भमें कहे गये हैं पर इन्हें वैष्णवपौराणिक या वैष्णवतान्त्रिक ध्यानोपासना शरणागति या भक्तिभाव के आलम्बन बननेवाले विभिन्न आधिदेविक रूपोंके बारेमें भी लागू करनेपर उन-उन देवरूपोंकी पूजाके हेतु या देवनामोंके जपके हेतु भी अपनाया जा सकता है. न केवल पञ्चदेवोपासक प्रत्युत वैष्णव शैव शाक्त आदि एकदेवोपासकोंकी आस्थाओंके भी बारेमें भी अपनाया जा सकता ही है.

यही बात देवताओं के पुरुषविध (anthropomorphic) या अपुरुषविध (non-anthropomorphic) अर्थात् साकारेश्वरवाद या निराकारेश्वरवाद के झगड़ोंमें भी खरी उतरती है. फलस्वरूप हम भारतीयोंको पहले कभी इस तरहकी समस्याओंके साथ जूझनेको बाधित नहीं होना पड़ा था. अतएव निराकारेश्वरवादी न्यायमत एवं शांकर वेदान्त की तरह साकारेश्वरवादी वैष्णव-शैव वेदान्तों के बीच बहुधा शास्त्रार्थ चलते रहनेके बावजूद इस समस्याने ऐसा विकराल रूप कभी धारण नहीं किया कि किसी एक आस्था द्वारा दूसरी आस्थाके मठ-मन्दिरोंको ढहा देना या मृत्युदण्डका

अधिकारी मान लेना किसीको आवश्यक लगा हो !

(वैष्णवी आस्थाके सामने प्रकट हुयी चुनौतियां)

फिरभी आज हमारी नयी पीढ़ीकी आस्थामें न तो ऐसी व्यापक लचीलापन ली हुयी स्वधर्मनिष्ठा झलकती है; और न स्वीय या परकीय धर्मोंके अनुसरण या अननुसरण का ही कोई रागद्वेषातिरेक दिखलायी देता है. यह तथ्य उभर झलकता ही है कि अपने-अपने धर्म-सम्प्रदायों और देव-आराधनाओं के बारेमें श्रद्धाभाव वर्तमानमें कुछ बढ़ता सा ही दिखलायी देता होनेपर भी, ऐसी किसी भी आस्थामें एकनिष्ठ न होना ही आजकी फेशन बनती जा रही है. इस फेशनके कारण बहुधा किसी एक धर्म-सम्प्रदायके संकीर्ण दायरेमें प्रतिबद्ध होना, कैदमें फंस जानेकी पीड़ा देनेवाली बात लगती हो ऐसा लगता है. कुछ अल्पसंख्याक अनुगामी इस तरह प्रतिबद्ध होना चाहते भी हों तो आधुनिक जीवनप्रणाली उन्हें अनुकूल न लगती होनेके कारण या तो वे समाजकी मुख्यधारासे वे कट जाते हैं. अथवा उनके साथवाले लोगोंको भीति सताने लगती है कि ऐसा व्यक्ति प्रतिगामितावादकी अस्वस्थ मनोवृत्तिका तो कहीं शिकार नहीं हो गया !

अतः ऐसे भूतकालीन श्रेष्ठ आदर्शको वर्तमानमें निभाना या तोड़ ही देना ? अथवा इस तरहकी आस्थाकी जो भी भवितव्यता हो उसके भरोसेपर छोड़ कर उसे हमारे उपेक्षाभावका विषय बना लेना चाहिये ? क्योंकि हमारी ऐसी व्यापक और लचीली आस्थाके साथ-साथ हमें जब भिन्न आस्थावाले लोगोंके सम्पर्कमें अनेक प्रकारकी आवश्यकताओंके कारण आने या रहने को विवश होना पड़ता है तब उन्हें हमारी आस्था या तो आस्थाहीनता जैसी या व्यवस्थाविहीन हास्यास्पदता लगती है. कभी ऐसी आस्था हमारी असामर्थ्य भी लगती है. ऐसी स्थितिमें उनके समक्ष हमारी आस्थाका प्रकट स्वीकार करना अथवा सम्बन्धोंमें अन्तराय न पड़ जाये ऐसे संकोचवश ऐसी आस्थाकी उपेक्षा ही कर देनी ?

इस तरहके अनेक प्रश्न हमारी आस्थाके सामने आज गम्भीर चुनौतीके रूपमें खड़े हो गये हैं.

पश्चिमी विद्वान् ; और उनके समान ही दृष्टिकोण अपनानेवाले भारतीय विद्वान् भी, वेदोंको बहुदेववादी मान कर चलते हैं. अथवा तो पृकृतिपूजावादी मानते हैं. उनकी यह धारणा आधुनिक शिक्षाप्रणाली द्वारा भी बहुप्रचारित होती रहती है. अतः वैष्णव किशोरों और युवकों के मनोबुद्धिमें भी वह व्यापक रूपसे आरूढ होती जाती है. ऐसी स्थितिमें आधुनिक शिक्षित युवा जनमानसमें वैष्णवी आस्थाके विपरीत विष्णुके बारेमें मूलतः या तो सूर्य आदि जैसे अनेक वेदोक्त आधिभौतिक पदार्थोंके पुराणोंद्वारा दैवीकरणकी बात ठंस जाती है. अथवा विष्णु या उसके अवतार राम-कृष्ण आदि कुलपरम्परागत श्रद्धाके भाजन होनेके कारण उनके बारेमें किसी भी तरहके चिन्तन या चर्चा में न

उलझनेकी पलायनवादितामें ही वे अपना हित मान कर चलने लगते हैं.

दुनियाके सभी देशोंके बीच वर्तमान कालमें पारस्परिक सूचनाओंके आदान-प्रदानकी आधुनिक प्रणाली विकसित हुयी है. व्यापारिक सामाजिक या सांस्कृतिक सम्पर्कोंको घनिष्ठ बनानेवाले संसारव्यापी माध्यमोंकी सुलभताके कारण भी हर व्यक्ति स्वयं उसकी आस्थासे विपरीत या अविपरीत भी सभी तरहकी आस्थाओंको निकटतासे जानने या निरखने भी लग गया है. किसी भी एक आस्थाके साथ, परन्तु, प्रतिबद्ध होनेकी मानसिकता अब क्षीणसे क्षीणतर होती जा रही है. अतएव ऐसी स्थितिमें पराई आस्था और निज आस्था के बीच रही विभाजकरेखाका भी धुंधला जाना एक स्वाभाविक नियति बनती जा रही है.

(आधुनिक जीवनशैलीके कारण सामने आती चुनौतियां)

किसी धर्म या सम्प्रदाय की मौलिक आस्थाकी प्राथमिक महत्ताके बाद दूसरे क्रमपर उस आस्थाको जीनेवाले अनुगामिओंकी जीवनशैलीका पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है.

आज शनैः-शनैः ग्रामांचलकी जनता नगरोंकी ओर निष्क्रमण करने लगी है, नगरोंकी जनता महानगरोंकी ओर; इसी तरह महानगरकी जनता विदेशोंकी ओर आब्रजन करने लगी है. ऐसी स्थितिमें ग्रामांचलीय फुरसद भरी जीवनशैली शनैः-शनैः विलुप्त होती जा रही है. ऐसी परिस्थितिमें धार्मिक अनुष्ठानोंकी जटिलता तथा बहुकालसाध्यता भी आधुनिक जीवनशैलीमें व्यवधान प्रकट करने लगी है.

उदाहरणतया निज पारिवारिक घरमें भगवत्सेवाका सांगोपांग अनुष्ठान सम्पन्न करने बाद ही धंधा या नौकरी आदिके लिये दौड़ना एक कठिन उत्तरदायित्व लगता है. तिसपर भी साम्प्रदायिक धार्मिक त्यौहार आदि उत्सवोंपर नौकरी परसे छुट्टि न मिलना अथवा धंधा-नौकरी के हेतु अपने आवासीय स्थलसे सुदूर स्थलोंपर यात्रार्थ जाना भी अनिवार्य बन जाता है. अतः वहां साम्प्रदायिक आस्थाप्रणालीके अनुरूप आवास खान-पान आदिकी व्यवस्थाका उपलब्ध न हो पाना भी आस्थाहासका हेतु बनने लगा है. यह भी पुनः स्कूलमें बिताये जाती बाल्यावस्थासे लेकर युवावस्था या प्रौढावस्था पर्यन्त चलती व्यस्तता है. जो धार्मिक जीवनशैलीको वृद्धावस्थामें अवकाशप्राप्तिके बाद ही, शारीरिक सक्षमता बच गयी हो तभी, स्वधर्मतया अनुसरणार्थ शक्य बना पाती है.

महाप्रभुके ज्येष्ठ आत्मज 'साधनदीपिका' नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि किसी भी देहधारी प्राणीके लिये सभी तरहके कर्मोंका त्याग शक्य न होनेसे भक्तिमार्गके अनुसार वर्णाश्रमधर्मोंको निभानेवालेके भीतर आसुरावेश नहीं होता. ऐसी स्थितिमें एक ओर अशक्यप्राय बने हुवे वर्णाश्रमधर्मानुसारी आह्निक कर्तव्यों और शौचाचारोंको निभाना और दूसरी ओर प्रातःकालसे ले कर रात्री तक

नवधाभक्तिवाली भगवत्सेवाको भी निभाने जानेपर प्रतिपदपर अनेकविध स्पर्धाओंमें उलझी जीवनशैलीका या तो परित्याग कर्तव्यतया स्वीकारना पड़ेगा. अथवा अनियततया जो कुछ भी जैसा भी आपाधापी बन पड़े उससे सन्तोष मानना पड़ेगा ? महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य यद्यपि अपने 'विवेकधैर्याश्रय' 'कृष्णाश्रय' 'चतुश्लोकी' और 'भक्तिवर्धिनी' आदि उपदेशग्रन्थोंमें कहते हैं कि भगवान्की शरणागति स्वीकार कर, भगवान्के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो कर भगवद्भजनमें तत्पर रहना देशकाल या लिंग वयोवस्था अथवा वर्णाश्रम की सीमाओंमें न बंधनेवाला हमारा एकमात्र प्रमुख आत्मधर्म है. फिरभी उसे निभाने जानेपर आधुनिक स्पर्धा भरी सत्वर जीवनशैली निश्चित ही आड़े आ जाती है.

(वैष्णवी आस्थाकी प्रचार-प्रसारशैलीके सामने आती चुनौतियां)

ग्रन्थोपदिष्ट सैद्धान्तिक आदर्शोंके विपरीत आजकी तारीखमें वैष्णव सम्प्रदायने अपनी आस्थाके प्रचार-प्रसार और निर्वाह के हेतु कुल चार तरहके उपायोंका अवलम्बन करना चाहा है :

१. भक्तिमार्गीय भजनकी रीतिका दृश्य-श्राव्य भागवतसप्ताहों द्वारा व्यावसायिक उपदेश.
२. भगवत्सेवाकी व्यावसायिक झांकिओंके सार्वजनिक प्रदर्शन.
३. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें यात्राके अन्तर्गत मुकामों अर्थात् ८४ बैठकोंकी यात्रा अनुगामी जनोंको करवानी और इसी तरह ब्रजभूमिके ८४ कोसकी भी यात्रा करवानी.
४. वैष्णव सम्प्रदायमें धार्मिक दार्शनिक ऐतिहासिक सामाजिक इतर आस्थाओंके साथ निज आस्थाके तुलनात्मक स्वरूप तथा अन्तमें आधुनिक युगके कारण उभरती समस्या और चुनौतियों का सामना या समाधान कैसे करना इस बारेमें कोई ठोस अनुसन्धानपूर्ण चिन्तनात्मक लेखसामग्री प्रकट हो नहीं पाती है. पुरानी घिसी-पिटी बातोंको दोहरानेवाली लेखसामग्री और किस धर्मगुरुने कहां किस स्थलकी प्रचारयात्रा की तथा किसके पुत्र या पुत्री का विवाह कितनी संख्यामें अनुगामी जनताने कितने आनन्द एवं उत्साह के साथ मनाया, बस इससे अधिक कोई स्थायी मूल्यकी लेखसामग्री प्रकाशित नहीं हो पाती है. हां, कुछ गोस्वामी महानुभावोंने अपनी-अपनी वेबसाइटें खोली हैं परन्तु मुझे नहीं लगता कि मुद्रित पत्रिकाओंके स्तरसे कोई उल्लेखनीय अन्तर इनमें हो.

इन चारों तरहके आयोजनोंमें जनताको आकर्षित कर के द्रव्य एकत्रित हो पाता होनेसे आधुनिक धर्मोपदेशकोंकी आजीविकाके उपार्जनके तो ये सरल एवं सफल उपाय माने जा सकते हैं. फिरभी मौलिक वैष्णवी आस्थाका प्रचार-प्रसार इन पद्धतिओंके कारण किस हद तक अनुगामी जनताको अनुप्राणित करने सफल हो पाया है ! यह विचारणीय विषय लगता है. क्योंकि स्वयं अनुगामी जनता इन्हें कितना पर्याप्त मानती है, उसका व्यापक सर्वेक्षण किया जाना भी आवश्यक है. कहीं ऐसा तो

नहीं कि जिस अनुगामी वर्गको अपने पारिवारिक वातावरणके प्रभाववश जो श्रद्धाभाव पूर्वसिद्ध ही है उस श्रद्धाभावके केवल मिथ्या तुष्टीकरणसे अधिक इन उपायोंमें अन्य किसी भी प्रकारकी प्रभावोत्पादकता हो ही नहीं. फिरभी वैष्णवी आस्थाके प्रचार-प्रसारमें जुटे वर्गको आत्मत्राणका एकमात्र उपाय यह लगता होनेका कारण, इससे अधिक कुछ कर न पानेकी कोई विवशतामात्र भी यह हो सकता है. अर्थात् इनमें किसी भी तरहका पुरुषार्थ जैसा कुछ भी न हो. इन आयोजनोंमें, निःसन्देह, श्रोता दर्शक यात्री या पाठक के रूपमें सम्मिलित होनेवाली जनताके भीतर धार्मिक भावनाका तात्कालिक उत्साह तो भरपूर झलकने और छलकने लगता है ऐसा तो देखा जा सकता है. इसके अलावा, परन्तु, स्थायी आध्यात्मिक या आधिदैविक प्रभाव या निष्ठा दृढ़ हो पाये ऐसी आशाकी कोई भी किरण इनमें फूटती दिखलायी तो नहीं देती है.

(वैष्णवी धर्मसंस्थाओंमें धार्मिक अधिकार और कर्तव्योंके निर्वाह तथा समायोजन की शैली और चुनौतियां)

वैष्णव सम्प्रदायमें धर्मसंस्थाओंके नामपर ^कबहुत सारे भारत तथा विदेशों में स्थापित सार्वजनिक देवालय, ^खमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रीप्रभुचरण श्रीनाथजी आदिकी सौ-डेढ़ सौ जैसी बैठकें, ^गकतिपय ग्रन्थ एवं मासिक पत्रिकाओं के प्रकाशनगृह, ^घस्वयं अनुगामी जनताके भीतर यहां-वहांके कुछ ग्रन्थ पढ़ कर सत्संग करानेवाले वैष्णवजनोंके सत्संगमण्डल और अन्तमें ^ङअन्तमें तथाकथित अन्तरराष्ट्रिय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् जैसी धार्मिक संस्थायें कार्यरत हैं.

^क इनमें जहां तक देश-विदेशस्थित सार्वजनिक देवालयोंका प्रश्न है, उनमें कर्मचारी वर्ग स्वयं वस्तुतः कितना वैष्णव सम्प्रदाय सिद्धान्त और आदर्शों में आस्थाशील है अथवा कितना केवल अन्य किसी भी तरहकी नौकरी करने लायक न होनेके कारण केवल आर्थिक लाभकी दृष्टिसे तुलसीकी कण्ठी पहना दी गयी होनेके कारण इन देवालयोंद्वारा उपार्जित द्रव्यसे अपने परिवारके पुत्र-पुत्रियोंको पढ़ा-लिखा कर उन्हें कहीं इस त्रासदीमें फंसना न पड़े ऐसी विवशताके कारण जुटा हुआ है. यह निश्चित करना इसलिये महत्वपूर्ण हो जाता है कि ऐसी स्थितिमें जिस संस्थाको आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहार्थ सर्वाधिक कार्यरत रखनेमें वैष्णव सम्प्रदायका धनबल जनबल और समय-क्रियाशक्ति लगी हुयी है स्वयं उसी धार्मिक संस्थामें कार्यभारी व्यक्तियोंका केवल नौकरीपेशा व्यक्तियोंके भरोसे चलाना इस सम्प्रदायके आस्थादारिद्र्यका बहुत बड़ा प्रमाण माना जाना चाहिये. जिस भगवत्सेवाकी अधिकारिताको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जाति-वर्ण-आश्रम-लिंग-के प्रभेदोंके बन्धनसे मुक्त रखना चाहा उसी भगवत्सेवाके संस्थाकीय स्वरूपमें ब्राह्मणवर्णको अनिवार्य माननेकी भ्रान्तिके वश इस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें निष्ठाशील जनताको केवल दर्शनाधिकारी मान बहिष्कृत किया गया है.

^ख महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रीप्रभुचरण आदिकी बैठकोंके बारेमें एक दारुण वास्तविकता यह है कि

अधिकांश ये बैठकें ठेकेदारीपर उठायी जाती होनेके कारण वैष्णवोंके यात्राकालकी अवधिमें खोली और चलायी जाती हैं. अन्यथा बंद ही रहती हैं. ठेकेदार जो ठेकेपर बैठकें लेते हैं उन्हें अपनी निवेशित पूंजीके आधारपर कुछ कमाई कर लेनेके अलावा सम्प्रदायके सिद्धान्त परम्परा या आस्था के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं होता. मुझे नहीं लगता अन्य किस धर्मसम्प्रदायके देरासर मन्दिर गुरुद्वारा चर्च या मस्जिद-मक़बरा इस तरह आस्थाहीन कर्मचारियों या आर्थिक ठेकेदारी लेनेवालों द्वारा चलाये जाते होंगे ! इन सचमुचमें ऐतिहासिक और कतिपय कपोलकल्पित तथ्योंके आधारपर घोषित पवित्र स्थलोंकी ऐसी दुर्गति वैष्णवी आस्थाके लिये वस्तुतः गम्भीरतम चुनौती है.

⁷ ग्रन्थ और त्रैमासिक/मासिक/पाक्षिक पत्रिकाओं के प्रकाशनगृहों के बारेमें धार्मिक सार्वजनिक न्यासरूप या निजी संस्थाओंका तो नाम तो केवल विधिक आवश्यकताके आधारपर दिया जाता है अन्यथा एकलव्यक्तिपुरुषार्थ (oneman's show) मानना ही अधिक उपयुक्त लगता है. फिरभी क्योंकि इनमें सिद्धान्तबोधसे मण्डित या विरहित पर निष्ठाशील अनुगामी जनता जुटी हुयी है अतः एकसूत्रता न होनेकी कठिनाईके बावजूद आस्थाके पोषक और निर्वाहक तो बन पाते हैं. फिरभी ग्रन्थ या पत्र-पत्रिका का मुद्रण-प्रकाशन और वितरण की प्रक्रियामें परस्पर संवादिता न होनेके कारण अनपेक्षित पुनर्मुद्रण अवितरण, वितरणापेक्षी जनताके लिये सरलतासे उपलब्ध न हो पाना, ऐसी अन्य भी कुछ दुविधायें एकसूत्रताके थोड़े से प्रयासके द्वारा दूर की जा सकती हैं.

⁸ इन व्यक्तिप्रधानताके बलपर चलते अर्थात् अराजकताकी मनोवृत्तिवाले इन अगणित सत्संगमण्डलोंका न तो कोई उत्तरदायित्वपूर्ण वैध स्वरूप है और न यही पता चल पाता है कि इनके द्वारा वैष्णवसम्प्रदायकी आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहमें कितना सच्ची दिशामें प्रयास हो रहा है और कितना ऐसे सत्संगमण्डलके बहाने वैष्णवी आस्थाके छद्मद्वेषी अथवा अन्यान्य क्षुद्र प्रयोजनोंके वश पाषंड फैलानेवाले दुर्भावयुक्त जन भी इस कार्यमें जुटे हुवे हैं.

⁹ यह संस्था विगत सौ-सवा सौ वर्षोंसे जीवित अवश्य है परन्तु न तो इस संस्थामें प्रतिवर्ष पारित होते प्रस्तावोंकी कार्यपूर्ति होती है और न इस संगठनका कोई निश्चित जनाधार ही अभी तक प्रकट हो पाया है. इसके वार्षिक महासम्मेलनोंके आयोजनार्थ भी इसे व्रजयात्रामें एकत्रित हुवे यात्री वैष्णवोंकी जनमेदिनीका मुखापेक्षी रहना पड़ता है. जो भी स्मारकग्रन्थ या स्मारिका पत्रिका इसके द्वारा प्रकाशित होते हैं उनमें एकसूत्रताका नितान्त अभाव सर्वथा खटकनेवाली बात लगती है. एक बार तो पोरबन्दरके किसी कार्यक्रम हम लोग सम्मिलित होनेवाले थे. सो वहां इसकी शाखाका उद्घाटन मेरे हाथों करानेका प्रस्ताव रखा गया. तदनुसार स्वीकृतिप्रदान कर मैंने शाखाके उद्घाटनकी सभामें उद्बोधन कर के शाखाके स्थानीय प्रमुख शाखाके मंत्री तथा कोषाध्यक्षों के नाम भी घोषित कर दिये. बादमें उस उद्घाटनसभामें उपस्थित अन्य कोई तीन महोदयोंने भरी सभामें मुझे पूछा कि अब हमारा क्या कर्तव्य बच गया ? मेरे यह कहनेपर कि पोरबंदरशाखाके पदाधिकारी जो घोषित हुवे हैं उनके

साथ मिल-बैठ कर कैसा सहयोग लिया और दिया जा सकता है, वह निर्धारित कर लेना चाहिये. तब उन तीनों महापुरुषोंने अपना मौन तोड़ कर मुझे सूचना दी तीन वर्ष पहले उन्हें भी इस परिषद्की शाखाके प्रमुख मंत्री और कोषाध्यक्ष बनाया गया था. सो उनका वह पदाधिकार अब चालु रहता मान कर सहयोग देना या समाप्त जान कर साधारण कार्यकर्ताके रूपमें सहयोग देना ! मेरी उद्बोधनशक्ति ही कुण्ठित हो गयी ! सो मैं भरी सभामें यह कह कर खिसक गया कि “मत पूछो कि अन्तरराष्ट्रिय परिषद् आपसे कैसा सहयोग चाहती है आप स्वयं बताओ कि आप उसे कैसा सहयोग दे सकते हैं !”

प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायोंमें आचार्यसंस्थाका यह परम कर्तव्य एवं अधिकार होना ही चाहिये कि उस धर्म-सम्प्रदायकी आस्थाके अनुरूप गुरुपद या आचार्यपद पर आसीन होनेवाले व्यक्तिओंका वंशानुक्रम अथवा शिष्यानुक्रम के आधारपर उस धर्म-सम्प्रदायकी आस्थाके अनुसार स्वाधीन होना, स्वसिद्धान्त और स्वकर्तव्य के प्रति जागरूकतया निष्ठाशील होना तथा अनुगामी जनतामें उस आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहके हेतु तत्पर भी होना. यह परन्तु वैष्णव धर्मसम्प्रदायमें आस्थाशीलोंके दुर्भाग्यवश इस सम्प्रदायमें गुरुपद या आचार्यपद पर आसीन होनेवाले पुरुषोंमें इनमेंसे किसी भी एक निकषपर योग्यायोग्य होनेके निर्धारणार्थ न तो कोई प्रक्रिया उपलब्ध है, न व्यवस्था या विधि गढ़ी जा सकी है; और न गुरुपदके दावेदार ऐसी किसी भी आचारसंहिताके अनुमोदनार्थ साहस धर्मनिष्ठा और स्वार्थपूर्तिके वृत्तसे बाहर निकलनेकी उदारता प्रकट कर पाते हैं. मुझे तो सर्वाधिक गम्भीर चुनौती आधुनिक युगमें वैष्णवी आस्थाके सामने सुरसाकी तरह मुँह बाँये खड़ी हुयी यही लगती है.

-----+-----

गोस्वामी श्याम मनोहर, ६३, स्वस्तिक-सोसायटी, ४ था रस्ता, जुहुस्कीम, पारले,
मुंबई : ४०० ०५६.

